

मुक्तः कदापि न हि याति विभावकायं,  
तद्धेतुभूत-सुकृतासुकृत-प्रणाशात् ।  
तस्मादहं सुकृत-दुष्कृत-कर्मजालं,  
मुक्त्वा मुमुक्षुपथमेकमिह व्रजामि ॥१६५॥

[ श्लोकार्थः ] मुक्त जीव... आलोचना है न ? जिसने आत्मा की परम आलोचना की, अर्थात् कि पूर्ण आनन्दस्वरूप की प्राप्ति की, वह परम आलोचना । परम आलोचना का अधिकार है न ? आत्मा के त्रिकाली पवित्र शुद्धस्वरूप को जिसने आलोचा—देखा,

जाना और स्थिर हुए, वह परम आलोचना। **मुक्त जीव...** ऐसी परम आलोचना करके हुए **मुक्त जीव विभावसमूह को कदापि प्राप्त नहीं होता...** कितने ही ऐसा कहते हैं न, भाई! मोक्ष होने के बाद... मोक्ष में बहुत (जीव) चले जाएँ, इसलिए और फिर से मोक्ष में से संसार में आना पड़ता है। आहाहा! भक्तों को कष्ट पड़ा हो तो मुक्ति में से आना पड़ता है। ऐसा स्वरूप नहीं है, कहते हैं।

**मुक्त जीव विभावसमूह को...** विकार के किसी भी प्रकार को **कदापि...** किसी काल में, कदापि अर्थात् किसी काल में **प्राप्त नहीं होता...** यहाँ भक्तों को चाहे जैसा कष्ट पड़े तो उन्हें अवतरित होना पड़े, ऐसा नहीं है। मुक्ति की स्थिति ऐसी नहीं है। मुक्त हुए, वे तो **विभावसमूह को कदापि प्राप्त नहीं होता...** अनन्त काल, सादि-अनन्त काल मुक्तस्वरूप रहते हैं। उन्हें विकल्प का समूह नहीं आता, उन्हें विकल्प नहीं आता। प्राप्त नहीं होते अर्थात् उन्हें कदापि विकल्प नहीं होते। निर्विकल्प आनन्द समूह को प्राप्त हुए, उन्हें विकल्प कभी होता ही नहीं। आहाहा!

**क्योंकि उसने उसके हेतुभूत...** किसके हेतुभूत? विभाव के समूह के हेतुभूत। **सुकृत और दुष्कृत का नाश किया है।** शुभभाव और अशुभभाव, दोनों का नाश किया है। सुकृत का भी नाश किया है। लो! यहाँ (अज्ञानी) कहे—भाई! सुकृत करने से मुक्ति होती है। यहाँ कहते हैं, सुकृत का नाश करके मुक्त हुए हैं। **सुकृत और दुष्कृत का...** अर्थात् शुभभाव और अशुभभाव का जिन्होंने **नाश किया है।**

**इसलिए अब मैं...** अब स्वयं मुनिराज कहते हैं। ऐसी स्थिति जब मुक्त की है कि मुक्त हुए, वे विकार को प्राप्त नहीं होते और उस विकार के हेतुभूत **सुकृत और दुष्कृत का (जिन्होंने) नाश किया है।** इसलिए वे मुक्ति को प्राप्त हुए हैं। **इसलिए अब मैं...** यहाँ मुनिराज कहते हैं **इसलिए अब मैं...** अब मैं। वे भले हो गये। अब मैं। अभी तक मैंने किया नहीं, कहते हैं। आहाहा! विभाव समूह का नाश करके मुक्त हुए। मैं भी अब... वे हुए, **इसलिए अब मैं सुकृत और दुष्कृतरूपी कर्मजाल को छोड़कर...** आहाहा! शुभ और अशुभ कर्तव्य, शुभ और अशुभ जो कर्तव्य है—दया, दान, व्रत, भक्ति आदि शुभ; हिंसा, झूठ, चोरी, विषय आदि अशुभ, इनका जो कर्मजाल है। वे दोनों कर्मजाल हैं। उन्हें

छोड़कर एक मुमुक्षु मार्ग में जाता है... उनका वचन खोला वापस। मोक्ष का मार्ग एक ही है और एक ही मोक्षमार्ग में मैं जाता हूँ। आहाहा!

मुमुक्षु उसे कहते हैं कि सुकृत और दुष्कृत का नाश करके स्वभाव की निर्मलता प्रगट करे, उसे मुमुक्षु कहते हैं। लो, यह मुमुक्षु का मण्डल का कहलाता है न तुम्हारे? अमुक गाँव के मुमुक्षु, अमुक गाँव के मुमुक्षु। मुमुक्षु का अर्थ यह। विकार, शुभ-अशुभभाव का नाश करके स्वभाव की प्राप्ति करे, वह एक ही मोक्षमार्ग। वापस 'एक' शब्द प्रयोग किया है न?

एक मुमुक्षु मार्ग में जाता हूँ... आहाहा! मुमुक्षु मार्ग के दो मार्ग नहीं हैं। व्यवहार भी और निश्चय भी (-ऐसे) दो मार्ग नहीं हैं। आहाहा! मुनिराज तो ऐसा कहते हैं। उसे ऐसा नहीं कहते (कि) कथंचित् व्यवहार भी ले लूँ। आहाहा! सुकृत और दुष्कृतरूपी कर्मजाल है वह। आहाहा! शुभभाव, वह भी एक कर्मजाल है, वह आत्मस्वभाव नहीं। आहाहा! यह पंचम काल के मुनि पंचम काल के श्रोता को कहते हैं। अभी मोक्ष तो नहीं न? मोक्ष नहीं होता, परन्तु मोक्ष का मार्ग है, उसे ले तो हुए बिना रहेगा ही नहीं। आहाहा!

अब मैं सुकृत और दुष्कृतरूपी कर्मजाल... है। शुभभाव, वह कर्मजाल है। आहाहा! दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, काम, क्रोध, वह धर्मभाव नहीं; वह कर्मजाल है। ऐसा तो स्पष्ट करते हैं। आहा! और उस एक मुमुक्षु मार्ग में मैं जाता हूँ... आहाहा! मैं जाता हूँ, ऐसी मुझे खबर पड़ती है, ऐसा वापस। आहाहा! भगवान को पूछना नहीं पड़ता। सुकृत और दुष्कृत का नाश करके अर्थात् कर्मजाल को छोड़कर एक मुमुक्षु मार्ग में जाता हूँ... मुमुक्षुओं का यह मार्ग है। मुमुक्षु मण्डल कहलाते हैं या नहीं? अमुक गाँव के मुमुक्षु मण्डल, अमुक गाँव का मुमुक्षु मण्डल। परन्तु मुमुक्षु कहना किसे हैं? कहते हैं। आहाहा! जो शुभ और अशुभभाव कर्मजाल है, उसे छोड़कर एक मुमुक्षु मार्ग में जाता हूँ... इस बन्धभाव को छोड़कर, अबन्धभाव में जाता हूँ। कर्मजाल छोड़कर धर्मभाव में जाता हूँ और वह एक ही मोक्षमार्ग है। आहाहा! ऐसा स्पष्ट है तो भी झगड़ा करते हैं। भगवान की वाणी निमित्त है, नैमित्तिकज्ञान होता है और निमित्त से ज्ञान नहीं होता—ऐसा माननेवाले मिथ्यादृष्टि हैं, ऐसा (अज्ञानी) कहता है, लो! यहाँ कहते हैं कि उसका जब शुभाशुभ नाश का काल आया, वहाँ उसे भगवान का सुनने का लक्ष्य भी छोड़ दिया। आहाहा! उसने शास्त्र को पढ़ना भी

छोड़ दिया। ऐसा आया या नहीं? कर्मजाल। आहाहा! शुभ और अशुभ विकल्प है, वह कर्मजाल है। उसे मैं छोड़ देता हूँ। आहाहा! समझाने में तो ऐसा ही आवे न? ऐसा कहा है कि राग को छोड़ना कहना, वह नाममात्र कथन है। (समयसार) ३४ गाथा में (कहा है)। आहाहा! राग का त्याग करूँ, नाश करूँ, यह भी नाम कथनमात्र है। व्यवहार अर्थात् कथनमात्र। वस्तु नहीं। आहाहा! व्यवहारनय, वह कथनमात्र है। आया है न? पहले पाँचवें श्लोक में (आया है) समयसार के पाँचवें श्लोक में। व्यवहार अर्थात् कथनमात्र।

ऐसे व्यवहार के कथनमात्र जो व्यवहार राग है, उसे छोड़कर एक मुमुक्षु मार्ग में जाता हूँ... राग के विकल्पजाल का व्यय करके मोक्ष के मार्ग का उत्पाद करके उस मार्ग में जाता हूँ। आहाहा! इस गाथा में कितना भरा है, देखो! मुमुक्षु का एक ही मार्ग है। अन्तर में शुभ और अशुभ छोड़कर और शुद्धता में रमणता करना, वह एक ही मुमुक्षु का मार्ग है। आहाहा! अब यहाँ (अज्ञानी) कहते हैं कि दो न माने तो वह मिथ्यात्वी है। भगवान की वाणी सुनकर निमित्त से यहाँ ज्ञान होता है—ऐसा न माने, निमित्त से ज्ञान होता है—ऐसा न माने, वह मिथ्यात्वी है। कौन कहता है?

**मुमुक्षु :** तत्त्व की खबर न हो तो ऐसा ही कहे।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** ऐसा ही कहे न! आहाहा!

मुझे तो जिस राग की जाल का त्याग का काल है... आहाहा! वही मेरे एक मोक्ष के मार्ग का काल है। आहाहा! अन्तर छूटने का एक ही मार्ग है। राग से छूटना, वह एक ही मार्ग है। राग का आदर करके राग व्यवहार है। व्यवहाररत्नत्रय है, इसलिए कुछ यह निश्चय होता है, इस बात को यहाँ तो छोड़ दिया है। आहाहा! नियमसार में आता है न? ४९ गाथा में। व्यवहार उपादेय है, ऐसा आता है। टीका में आता है। ४९ गाथा। इसका अर्थ किया है कि व्यवहार है, वह जाननेयोग्य है, उसे उपादेय कहा है, ऐसा अर्थ किया है। नियमसार की ४९ गाथा। ५० गाथा में तो फिर पर्याय को परद्रव्य कहकर छोड़ा दिया है। पर्याय भी परद्रव्य है, इसलिए पर्याय का भी लक्ष्य छोड़ दे। आहाहा! मोक्ष के मार्ग की पर्याय का भी लक्ष्य छोड़ दे।

अन्तर द्रव्यस्वभाव सत्ता महाप्रभु भगवान पूर्णानन्द से भरपूर पूर्ण स्वरूप, सनातन अनादि सत्, सत्य सनातन के मार्ग में जा, तब तुझे मोक्ष का मार्ग और मुमुक्षु कहने में आता

है। आहाहा! ऐसा सुनना पड़े? कहते हैं। यहाँ कहा। अन्यत्र कहा है या नहीं? परन्तु अन्यत्र कहा है, वह तो जानने के लिए कहा है। व्यवहार जाना हुआ प्रयोजनवान है। (समयसार की) १२वीं गाथा में ऐसा कहा। व्यवहार आता है, वह जाना हुआ प्रयोजनवान है। 'तदात्वे' उस-उस समय में जाना हुआ प्रयोजनवान है क्योंकि समय-समय की पर्याय की शुद्धि बढ़ती है और समय-समय की अशुद्धि घटती है, इसलिए उस-उस समय की शुद्ध और अशुद्ध की पर्याय जाना हुआ प्रयोजनवान है; आदर किया हुआ प्रयोजनवान है— ऐसा नहीं कहा। १२वीं गाथा। इसका भी विरोध करते हैं कि देखो! यह 'व्यवहारदेसिदा पुण' व्यवहार दिखाया है। निचले मार्गवाले को व्यवहार ही होता है। 'व्यवहारदेसिदा पुण' ऐसा आया न? 'अपरमे द्विदा भावे' निचले मार्ग में जो स्थित है, उसे व्यवहार ही दिखाया है। ऐसा अर्थ वहाँ करते हैं।

वहाँ 'अपरमे द्विदा भावे'... 'व्यवहारदेसिदा पुण' इसकी व्याख्या टीकाकार ने तो ऐसी की है कि उस काल में जिस समय की पर्याय की शुद्धता और अशुद्धता है, उसे जानना, वह व्यवहार प्रयोजनवान है। दूसरे समय में भी शुद्धता का अंश बढ़े और अशुद्धता का अंश घटे, वह दूसरे समय में भी उस प्रकार का ज्ञान जानना प्रयोजनवान है। तीसरे समय में शुद्धि का अंश बढ़े, अशुद्धि का घटे तो उस समय में उसे जाना हुआ प्रयोजनवान है—ऐसा वहाँ तो कहा है। आहाहा! 'तदात्वे' शब्द पड़ा है (अर्थात्) उस काल में। अर्थात् समय-समय में। क्योंकि समय-समय में व्यवहार में अन्तर पड़ता है। शुद्धि बढ़ती है, अशुद्धि घटती है। समय-समय में अन्तर (पड़ता है), वह सब व्यवहार है। पर्याय है न? आहाहा! समझ में आया? उस-उस काल में उस-उस प्रकार की अपूर्ण शुद्धपर्याय और अशुद्धपर्याय साथ में होती है, उस काल में उस समय में वह जाननेयोग्य है। बस, इतनी बात है। वह यहाँ कहते हैं कि उसे तो मैं छोड़ देता हूँ। जाननेयोग्य है, वह बराबर है परन्तु वह छोड़नेयोग्य है। आहाहा! व्यवहार का आश्रय छोड़नेयोग्य है।

[ अर्थात् मुमुक्षु जिस मार्ग पर चले, उसी एक मार्ग पर चलता हूँ। ] वही एक मुमुक्षु मार्ग है न, मूल पाठ में? इसलिए उसका अर्थ किया। ( उसी एक मार्ग पर ) आहाहा! सुकृत और दुष्कृत को छोड़कर, शुभ और अशुभभाव को छोड़कर... आहा! भगवान की भक्ति का भाव, पंच महाव्रत का भाव, पंच परमेष्ठी के स्मरण का भाव, वह

भी सुकृत है, उसे छोड़कर। वह मार्ग नहीं है। आहाहा! वह मुमुक्षुओं का मार्ग नहीं है। आता है, बीच में आता है, परन्तु उसे छोड़ता जाता हूँ।

यह बहिन के (वचनामृत) में आया न? एक मुसाफिर एक नगर से दूसरे नगर जाता है। जिस नगर में जाना है, वह ध्येय है। बीच में दूसरे नगर आते हैं, उन्हें छोड़ता जाता है, वहाँ रहता नहीं है, अटकता नहीं है। देखने को भी नहीं अटकता। वह तो चला ही जाता है। अपना जो गाँव है, जहाँ जाना है, वहाँ चला ही जाता है। बीच में जो गाँव आवे, उसे छोड़ता जाता है। इसी प्रकार मुमुक्षु बीच में जो भाव आता है, उसे छोड़ता जाता है। आहाहा! और साध्य जो उपेय-सिद्ध है, उस मार्ग में चलता जाता है। उसके सन्मुख चलता जाता है। आहाहा! यह मुमुक्षु का मार्ग है। इसे मुमुक्षु कहते हैं। बाड़ा का मुमुक्षु मण्डल बाँधा, इससे सब मुमुक्षु हैं—ऐसा नहीं है - यह कहते हैं। आहाहा!

एक मुमुक्षु मार्ग। सुकृत को छोड़कर-शुभभाव के भाव को भी छोड़कर... आहाहा! पंच परमेष्ठी का शरण छोड़कर, मुमुक्षु का मार्ग आत्मा के स्वभाव की शरण में जाना, वह एक ही मोक्षमार्ग है। आहाहा! वहाँ मैं जाता हूँ। वहाँ मैं चलता हूँ। यह मुझे खबर है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! भगवान को पूछना पड़ता भी नहीं। है? एक ही मार्ग में चलता हूँ। **एक मुमुक्षु मार्ग में जाता हूँ...** इसका अर्थ यह लिया न? मुमुक्षु मार्ग में जाता हूँ, यह मुझे खबर है। मेरे ज्ञान में यह बात आयी है। आहाहा! यह कहीं भगवान को पूछना नहीं पड़ता कि मैं साधकभाव में हूँ या कैसे? आहाहा! ऐसी बात है। गजब कलश उत्कृष्ट हैं! यह १६५ कलश (पूरा) हुआ।

### श्लोक-१६६

( अनुष्टुप् )

प्रपद्येऽहं सदाशुद्ध-मात्मानं बोध-विग्रहम् ।  
भवमूर्तिमिमां त्यक्त्वा पुद्गलस्कन्धबन्धुराम् ॥१६६॥

( वीरछन्द )

पुद्गल स्कन्धों से अस्थिर भव-मूर्ति इस तन को त्याग ।  
सदा शुद्ध जो ज्ञानशरीरी आतम का करता आश्रय ॥१६६॥

[ श्लोकार्थः ] पुद्गलस्कन्धों द्वारा जो अस्थिर है ( अर्थात् पुद्गलस्कन्धों के आने-जाने से जो एक-सी नहीं रहती ) ऐसी इस भवमूर्ति को ( -भव की मूर्तिरूप काया को ) छोड़कर मैं सदाशुद्ध ऐसा जो ज्ञानशरीरी आत्मा उसका आश्रय करता हूँ ॥१६६॥

श्लोक -१६६ पर प्रवचन

प्रपद्येऽहं सदाशुद्ध-मात्मानं बोध-विग्रहम् ।  
भवमूर्तिमिमां त्यक्त्वा पुद्गलस्कन्धबन्धुराम् ॥१६६॥

[ श्लोकार्थः ] आहाहा ! पुद्गलस्कन्धों द्वारा... परमाणुओं द्वारा यह शरीर अस्थिर है । आहाहा ! घड़ीक में रोग आवे, घड़ीक में कुछ हो, घड़ीक में कुछ हो जाए, पीलिया आवे, अपना बिचारा न हो, शरीर पीला पड़ जाए, देखने का जो हो वह सब पीला दिखायी दे । आहाहा ! उन पुद्गलस्कन्धों द्वारा... पुद्गल के स्कन्धों द्वारा, पुद्गल के स्कन्ध के पिण्ड द्वारा । जो यह काया अस्थिर है । ( पुद्गलस्कन्धों के आने-जाने से )... आने और जाने से । समय-समय में आते और जाते हैं । ( आने-जाने से जो एक-सी नहीं रहती )... आहाहा ! यह काया एक-सरीखी नहीं रहती, ऐसा कहकर कायारहित की बात कहेंगे । आहाहा !

पुद्गलस्कन्धों ( पिण्ड ) द्वारा जो अस्थिर है ( अर्थात् पुद्गलस्कन्धों के आने-जाने से जो एक-सी नहीं रहती ) ऐसी इस भवमूर्ति... भवमूर्ति । इस शरीर को भवमूर्ति कहा । आहाहा ! है न ? ( -भव की मूर्तिरूप काया को )... भवमूर्ति, भव की काया । आहाहा ! उसे छोड़कर... यह भव की मूर्तिरूप शरीर । परमाणु आवे, जायें, अस्थिर हो । घड़ीक में, क्षण में उड़ जाते हैं । बहुतों का सुनते हैं, अमुक ऐसे मर गया, ऐसे पृथक् पड़ गया । क्षण में ऐसा हो गया और अमुक ऐसा हो गया । आहाहा ! शरीर की दशा, वह तो इन परमाणुओं की उस प्रकार से आना-जाना होने से वह अस्थिर है । एकरूप रहना, उस स्वरूप नहीं है । शरीर का एकरूप रहना, ऐसा स्वरूप नहीं है । आहाहा ! अब एकरूप रहना, वह क्या है ?

ऐसी इस भवमूर्ति को ( -भव की मूर्तिरूप काया को ) छोड़कर मैं... एक ओर ऐसा कहना कि आत्मा को राग-द्वेष का नाश, वह भी नाममात्र है तो पर का छोड़ना तो उसमें है ही नहीं क्योंकि पर का ग्रहण नहीं है । पर का ग्रहण किया ही नहीं, इसलिए उसे छोड़ना-ऐसा भी नहीं है । यहाँ भी यह समझाते हैं । है, वह छूट जाता है; इसलिए उसे कहते हैं, छोड़ता हूँ । ऐसा निमित्त का कथन है ।

**मुमुक्षु :** ममता छोड़ी ।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** वस्तु तो उसकी ओर का झुकाव छोड़ा है, वह वस्तु तो छूटने के काल में उसके कारण से छूटेगी ही । आत्मा से छोड़ी नहीं जाती । आत्मा जिसे राग का नाश भी नाममात्र है क्योंकि ज्ञानस्वरूप, रागरूप हुआ नहीं । चैतन्यशरीर कहेंगे । विग्रह । 'बोध-विग्रहम्' है न ? देखो न ! शरीर है न ? इस गाथा में 'बोध-विग्रहम्' ज्ञानशरीर-ज्ञानशरीर । इस ज्ञानशरीर को मैं पकड़ता हूँ । ज्ञानशरीर ऐसा जो आत्मा । जिसका शरीर ज्ञान है । आहाहा ! यह काया इसका शरीर नहीं है । यह तो भव की मूर्ति है । अस्थिर पुद्गलस्कन्ध के जाने-आने के कारण यह काया अस्थिर है । जवानी में भी भवरोग होकर देह छूट जाती है । आहाहा ! २५-२५ वर्ष के जवान लोग ( मर जाते हैं ) । क्या हुआ ? कहे, या किडनी का दर्द हुआ, या अमुक हुआ, या अमुक हुआ, ऐसा करके उड़ जाते हैं । यह उसकी पर्याय का उस समय का वही स्वभाव है, उससे छोड़ना पड़ता नहीं, वह छूट जाता है । आहाहा ! यहाँ उपदेश में ( ऐसा कहते हैं ), ऐसी भवमूर्ति को छोड़कर... उपदेश की शैली है न ?



मैं सदाशुद्ध ऐसा जो ज्ञानशरीरी आत्मा... आहाहा! मैं... अर्थात् दूसरे सबसे भिन्न। सदाशुद्ध... तीनों काल में शुद्ध। आत्मा कभी अशुद्ध हुआ ही नहीं। आहाहा! द्रव्य है, वह अशुद्ध हुआ ही नहीं। सदाशुद्ध है। सदाशुद्ध ऐसा जो ज्ञानशरीरी आत्मा... ज्ञान जिसका शरीर है, वह आत्मा। यह पुद्गल जिसका शरीर है, वह काया जड़। यह (आत्मा) ज्ञानशरीर है। ऐसा आत्मा। बोधशरीर कहा है न इसमें? देखो न! कहा न 'बोध-विग्रहम्' विग्रह अर्थात् शरीर। १६६ के श्लोक की पहली लाईन का अन्तिम शब्द। 'बोध-विग्रहम्' विग्रह अर्थात् शरीर। ज्ञानशरीर। भगवान तो ज्ञानशरीरस्वरूप है। यह काया तो पुद्गल के आने-जानेरूप शरीर के भव की मूर्ति है। आहाहा! भवकाया है, भव की काया है। आहाहा!

ज्ञानशरीरी आत्मा उसका आश्रय करता हूँ। ठीक! 'भूदत्थमस्सिदो खलु' (समयसार की) ११वीं गाथा में आया न? भूतार्थ का आश्रय करूँ। त्रिकाली चीज जो भगवान है, उसका मैं आश्रय करूँ। राग का नहीं, निमित्त का नहीं, पर्याय का भी नहीं। त्रिकाली जो ज्ञानशरीर आत्मा... आहाहा! त्रिकाल एकरूप जो ज्ञानशरीररूप त्रिकाल ध्रुव। एक ही स्वरूप चलाचलरहित जो चीज है, उसका मैं आश्रय करता हूँ। जो चलाचलरहित चीज ध्रुव शरीर ज्ञान, ज्ञान ध्रुव शरीर ऐसा आत्मा। आहाहा! शरीर तो कहा परन्तु ज्ञानशरीर। आत्मा को शरीर कहा। ज्ञानशरीर आत्मा। जिसे ज्ञानरूपी शरीर आत्मा है। आहाहा!

ज्ञानशरीरी आत्मा, ऐसा कहा न? ज्ञान जिसका शरीर है। जिसमें एकरूपता है। जिसमें आना-जाना (नहीं है)। इस शरीर में जैसे परमाणु का आना-जाना है, वैसा उसमें नहीं है। उसमें कोई गुण आवे और जाए, पर्याय कम-अधिक हो, ऐसा वस्तु में नहीं है। आहाहा! पर्याय कम-अधिक हो, वह तो अवस्था है। ज्ञानशरीरी त्रिकाली आत्मा का आश्रय करता हूँ, उसका अवलम्बन लेता हूँ, उसका मुझे आधार है। आहाहा! उसका मुझे शरण है। चार मांगलिक और शरण जो कहे, वह व्यवहार है। अरिहन्ता शरणम्, सिद्धा शरणम्, साहू शरणम्, वह भी व्यवहार है। यह निश्चय है।

ज्ञानशरीरी आत्मा, उसका आश्रय करता हूँ। व्यवहार का आश्रय करता हूँ या व्यवहार को धीरे-धीरे राग मन्द करता हूँ और फिर आत्मा को प्राप्त करूँगा, ऐसा कुछ है नहीं। आहाहा! अशुभ में से शुभ में आऊँ तो फिर मैं शुद्ध को पाऊँ—ऐसा यहाँ है नहीं। यहाँ तो कहते हैं कि मैं शुभ को छोड़कर... आहाहा! यह पहले में आ गया। इसमें भवमूर्ति

को छोड़कर मैं सदाशुद्ध ऐसा... त्रिकाल पवित्रता का पिण्ड प्रभु, सनातन सत्ता, एकरूप रहनेवाली निर्मल सत्ता—ऐसा जो ज्ञानशरीर आत्मा, उसका मैं आश्रय करता हूँ। यह आश्रय करती है पर्याय, परन्तु मेरा लक्ष्य वहाँ जाता है - ऐसा कहते हैं।

इस ज्ञानशरीरी आत्मा का आश्रय करता है, इसलिए उसकी पर्याय में वह आ जाता है, ऐसा नहीं है। मैं उसका आश्रय करता हूँ, मेरी पर्याय में अवलम्बन वही है, उसका जितना सामर्थ्य और शक्ति है, उतना और वैसा मेरे ज्ञान में सामर्थ्य और शक्ति है, उतना भान होता है। आहाहा! उसका तो मैं आश्रय करता हूँ। उसरूप होता हूँ - ऐसा नहीं। ज्ञानशरीर तो ध्रुव है। ध्रुवरूप तो होता नहीं। मैं उसका आश्रय करता हूँ। त्रिकाली नित्यानन्द प्रभु, सच्चिदानन्द प्रभु जो हलचलरहित चीज अर्थात् परिणमनरहित चीज, हीनाधिकरहित चीज, एकरूप रहनेवाली चीज—ऐसा एकरूप ज्ञानशरीर, (उसका आश्रय करता हूँ)। आहाहा!

उसमें आया था न? एक आया था न? एक मार्ग में जाता हूँ। १६५ में आया था न? एक ही मार्ग है। मार्ग है, वह पर्याय है, परन्तु एक ही मार्ग है कि शुद्ध ध्रुव का आश्रय लेना, बस! आहाहा! दूसरे सब कथन चरणानुयोग में आते हैं। महाव्रत पालन करना, अतिचार टालना, दोष लगे तो प्रायश्चित्त लेना ऐसा सब आता है न? वह सब जाननेयोग्य है। आश्रय करनेयोग्य यह एक ही। ज्ञानशरीर ध्रुव आत्मा का आश्रय करता हूँ। आहाहा! यह १६६ कलश (पूरा) हुआ।

श्लोक-१६७

( अनुष्टुप् )

अनादिममसन्साररोगस्यागदमुत्तमम् ।  
शुभाशुभविनिर्मुक्तशुद्धचैतन्यभावना ॥१६७॥

( वीरछन्द )

भाव शुभाशुभ से विहीन शुद्धातम की भावना करूँ ।  
मम अनादि संसार-रोग की उत्तम औषधि यही लहूँ ॥१६७॥

[ श्लोकार्थः ] शुभ और अशुभ से रहित शुद्धचैतन्य की भावना मेरे अनादि संसाररोग की उत्तम औषधि है ॥१६७॥

श्लोक -१६७ पर प्रवचन

१६७ श्लोक ।

अनादिममसन्साररोगस्यागदमुत्तमम् ।  
शुभाशुभविनिर्मुक्तशुद्धचैतन्यभावना ॥१६७॥

[ श्लोकार्थः ] आहाहा! बहुत संक्षिप्त किया। शुभ और अशुभ से रहित... शुभ और अशुभ का विकल्प है, वह कर्मजाल है। उसे छोड़कर, उससे रहित होकर शुद्धचैतन्य की भावना... शुद्धचैतन्य की भावना। शुद्धचैतन्य है, वह ध्रुव है। उसकी भावना है, वह वर्तमान पर्याय है। शुद्धचैतन्य की भावना... व्यवहार की भावना नहीं, शुभराग की भावना नहीं। शुद्धचैतन्य की भावना। निर्मलानन्द प्रभु पूरा पवित्रता का पिण्ड, अनादि से पवित्र पिण्ड है। वह पवित्र का ही पिण्ड है। अनन्त गुण का पिण्ड, अनन्त गुण सब पवित्र ही हैं। कोई गुण, पर्याय में अपवित्र हो - ऐसा गुण नहीं है। पर्याय में जो अपवित्रता आती है, वह तो निमित्त के लक्ष्य से, पर के आश्रय से—वश से आती है। स्व के गुण के आश्रय से अपवित्रता नहीं आती। आहाहा! तथापि उस अशुद्धता का आश्रय आत्मा है, ऐसा भी

कहने में आता है। पंचास्तिकाय की दसवीं गाथा में ऐसा कहा है कि उस मलिन परिणाम का आश्रय भी आत्मा है अर्थात् पर्याय का कर्ता आत्मा है। पर्याय का कर्ता पर्याय है, दूसरा नहीं, ऐसा बताना है। वहाँ ऐसा कहा है। पाठ ऐसा है, हों! शुभ और अशुभभाव का आश्रय यह जीव है। इसका अर्थ कि उसकी पर्याय में स्वयं से होता है; पर से नहीं होता—ऐसा उसका अर्थ है। आहाहा! किस जगह किस कथन की अपेक्षा, किस जगह क्या अपेक्षा है, इसे (समझे नहीं तो) गड़बड़ करता है।

यहाँ तो कहते हैं एक शुद्धचैतन्य की भावना—वीतरागी परिणति। वीतरागी स्वभाव, वह मेरा शुद्धचैतन्यस्वरूप। वीतरागीस्वरूप, वह मेरा शुद्धचैतन्यस्वरूप, उसकी भावना, वह वीतरागी भावना है। आहाहा! शुभ-अशुभभाव है, वह राग भावना है। इस शुद्धचैतन्य की भावना मेरे अनादि संसाररोग की उत्तम औषधि है। आहाहा! शुभ और अशुभ से रहित शुद्धचैतन्य की भावना... अर्थात् परिणति-पर्याय, शुद्धचैतन्य की पर्याय भावना निर्मल, शुभभाव से रहित वह मेरे अनादि संसाररोग की... वह अनादि संसाररोग भी पर्याय का मुझमें है। मेरा कहा न? मेरे अनादि संसाररोग... आहाहा! पर के कारण कुछ है नहीं। मेरे अनादि संसाररोग की उत्तम औषधि है। आहाहा! औषधि कहाँ से निकाला? 'संसाररोगस्यागद' 'आगदमुत्तमम्' इसमें से औषधि निकाला है। पाठ में है न? वहाँ उस दिन चिह्न किया था। आहाहा! उत्तमम्, वापस उत्तमम् कहा। है न?

**मुमुक्षु :** उत्तम औषधि।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** हाँ, उत्तम औषधि है। आहाहा! यह भावना, शुद्धचैतन्य भगवान परमात्मा की भावना, वह उत्तम औषधि है। भव को मिटाने की वह उत्तम औषधि है। भवरूपी रोग है। आहाहा! यहाँ ऐसा कहा नहीं कि नारकी या तिर्यच ही रोग है। चारों गति रोग है, देवगति भी रोग है। देवगति भी रोग है। आहाहा! चारों ही गति, वह रोग है। आहाहा! वह मेरे अनादि संसाररोग... चार गति का रोग, उसे मिटाने की उत्तम औषधि है। चैतन्य की भावना। शुद्धचैतन्य की परिणति। शुद्धचैतन्य जो ध्रुव, उसकी परिणति अर्थात् निर्मल पर्याय। उसकी भावना। भाव की भावना। भाव त्रिकाल ध्रुव, उसकी भावना। वह उत्तम औषधि-संसार के त्याग की उत्तम औषधि है। चार गति के त्याग की वह उत्तम औषधि है। देवगति के त्याग की भी वह उत्तम औषधि है। देवगति प्राप्त करना अच्छा है, ऐसा नहीं है। आहाहा!

**अनादि संसाररोग...** यह चार गति अनादि संसाररोग है। मनुष्यगति, वह रोग है। मनुष्यगति से केवलज्ञान प्राप्त होता है, मनुष्यगति में ही प्राप्त होता है, इसके सिवाय प्राप्त नहीं होता, इसलिए मनुष्यगति से प्राप्त होता है? मनुष्यगति तो रोग है। आहाहा! मेरे... वापस शब्द कैसा है? रोग है, वह मेरी पर्याय में है। मेरे अनादि संसाररोग... पर के साथ मुझे क्या सम्बन्ध है? आहाहा! कर्म के कारण रोग था—भटकता था—था, ऐसा नहीं। अनादि संसाररोग मेरा। आहाहा! चार गति में भटकना, वह अनादि संसाररोग मेरा है। पर्याय में। उसके नाश की... आहाहा! **उत्तम औषधि है।** आहाहा!

यहाँ तो मनुष्यगति और देवगति का भी नाश (करने की) औषधि यह शुद्धचैतन्य भावना है। त्रिकाली शुद्धचैतन्य की भावना, वह इस राग के नाश का उपाय है। मुझे मनुष्यपना मिले तो मैं भगवान के पास जाऊँ, देव में जाऊँ, ऐसी बात यहाँ नहीं ली है। चारों गति रोग है। आहाहा! देव होऊँ तो भगवान के पास जाऊँ, ऐसा नहीं लिया। यह चारों गति रोग है। इनके नाश का उपाय तो मेरी भावना एक ही है। आहाहा! भगवान के पास जाऊँ और सुनूँ, यह उपाय है - ऐसा नहीं लिया। पंचम काल है और भगवान यहाँ नहीं है तो यहाँ से मनुष्यपने में से देव में जाऊँगा, वहाँ से भगवान के पास जाऊँगा, वहाँ सामने अधिक प्राप्त करूँगा, ऐसा नहीं लिया। आहाहा! दिगम्बर के वचनों की तीव्रता है। पंचम काल के श्रोता को कहते हैं। पंचम काल के साधु, पंचम काल के श्रोता को कहते हैं।

**शुभ और अशुभ से रहित शुद्धचैतन्य की भावना मेरे अनादि संसाररोग की उत्तम औषधि है।** आहाहा! चैतन्य की भावना, वह उत्तम औषधि है। भगवान के दर्शन करूँ और भगवान के पास सुनूँ, यह कुछ नहीं लिया। आहाहा! चैतन्यमूर्ति जो आत्मा, उसकी जो भावना, उसके सन्मुख की जो दशा, वह अनादि रोग को मिटाने का उपाय है। आहाहा! बहुत संक्षिप्त किया है। यह सुनना, पढ़ना... आहाहा! पहले अशुभराग टालना, फिर शुभराग टालेगा, यह बात नहीं ली। आहाहा! यह शुभ और अशुभ दोनों को टालने का उपाय, वह मेरी भावना है। मेरे शुद्धचैतन्य की भावना शुभ-अशुभराग को मिटाने के लिये है। आहाहा! एक-एक श्लोक पूरा संसार उड़ा देता है। शुभभाव को तो व्यर्थ कर डालता है। जो अभी शुभभाव करेंगे तो ऐसा होगा और ऐसा करेंगे तो ऐसा होगा।

**मुमुक्षु :** इस काल में शुभभाव ही होता है।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** हाँ, और वह यह कहता है। इस काल में तो शुभभाव ही होता

है। श्रुतसागर एक (साधु) हैं, वे और ऐसा ही कहते हैं। आहाहा!

यह मुनि पंचम काल के हैं। यह श्लोक बनानेवाले तो ९०० वर्ष पहले (हुए) हैं। पंचम काल के ९०० वर्ष पहले के साधु ऐसा कहते हैं... आहाहा! मेरे अनादि संसाररोग की उत्तम औषधि... अभी मेरी शुद्धचैतन्य की भावना है। आहाहा! पंचम काल के लिये भी अनादि चार गति का संसाररोग मिटाने के लिये पंचम काल में भी काल-फाल कहीं वहाँ बाधक नहीं है। मेरे शुद्धचैतन्य की भावना, वह रोग मिटाने का उपाय है। पंचम काल में शुभभाव करना, फिर आगे बढ़ने पर शुद्ध होगा, ऐसा नहीं कहा। आहाहा! कठिन वचन है। बहुत संक्षिप्त।

**शुद्धचैतन्य की भावना...** निश्चयमोक्षमार्ग। निश्चयमोक्षमार्ग एक ही। आहाहा! भव के रोग को मिटाने का उपाय यह एक ही है। निश्चयमोक्षमार्ग और व्यवहारमोक्षमार्ग दो हैं, ऐसा नहीं। आहाहा! यह पहले में आ गया है। एक मोक्षमार्ग, एक ही मार्ग है। आहाहा!

**मुमुक्षु :** दूसरा मोक्षमार्ग होवे तो उसे किस तत्त्व में डालना ?

**पूज्य गुरुदेवश्री :** दूसरा मोक्षमार्ग होवे तो अजीवतत्त्व। वह अजीवतत्त्व है, जीवतत्त्व नहीं। जीव की भावना नहीं, जड़ की भावना है। आहाहा! पहले कह गये न? सुकृत और दुष्कृत। आहाहा! संसार के घोर, सहज इत्यादि रौद्र दुःखादिक से प्रतिदिन परितप्त होनेवाले इस लोक में... प्रतिदिन, प्रत्येक काल। देवलोक में भी। आहाहा! संसार के घोर, सहज... वह घोर भी सहज दुःख है। रौद्र दुःखादिक से प्रतिदिन परितप्त होनेवाले... आहाहा! उसमें से कोई संसारी जीव निकाला नहीं कि देव का जीव या पैसेवाले का जीव या अरबोंपति जीव हैं। वे सब दुःख से परितप्त हैं। आहाहा!

‘शरीर से सुखी, वह सुखी सर्व बातें’ ऐसा नहीं आता? ‘शरीर से सुखी, वह सुखी सर्व बातें’। शरीर आद्यं धर्म साधनम्, ऐसा पुरुषार्थसिद्धिउपाय में आता है। ये सब निमित्त के कथन हैं। आहाहा! वस्तु तो यह है। चैतन्य त्रिकाली आनन्द का सागर, ज्ञानशरीरी प्रभु की जो भावना—चैतन्यभावना, वह संसाररोग मिटाने का एक उपाय है। बाकी यह रोग मिटाने की दूसरी औषधि नहीं है। यह एक औषधि है। आहाहा! उत्तम औषधि कहा है न वापस ?

**मुमुक्षु :** लागू पड़ ही जाती है।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** वह पड़ती ही है। औषधि ही वह है और उस औषधि से वह रोग मिटता ही है। आहाहा!

संसाररोग की उत्तम औषधि है। मेरे अनादि... संसार के नाश के लिये शुद्धचैतन्य की भावना है। ऐसा कहा न? शुभ-अशुभरहित—पहले कहा न? शुभ और अशुभ से रहित शुद्धचैतन्य की भावना... आहाहा! मेरे अनादि संसाररोग... ओहोहो! सर्वार्थसिद्धि का भव भी रोग है। आहाहा! वह कलंक है। योगसार में कहा है कि भव है, वह कलंक है। उस कलंक को मिटाने का उपाय शुद्धचैतन्य की भावना है। शुद्ध चेतन वस्तु की भावना, एक ही बात है। वह भावना, वह निश्चयमोक्षमार्ग है। वह स्व के आश्रय से जो हो, वह निश्चयमोक्षमार्ग, वह एक ही मार्ग है। आहाहा!

शुभ और अशुभ से रहित शुद्धचैतन्य की भावना... भावना अर्थात् कल्पना और विकल्प, ऐसा नहीं। आहाहा! कहते हैं न वे? प्रवचनसार में आता है न? सामायिक में श्रावक हो, तब शुद्धभावना होती है। उसका ऐसा अर्थ करते हैं कि शुद्धोपयोग नहीं, शुद्धभावना की कल्पना करते हैं। वहाँ पूछा था न, वहाँ भावना कही है। परन्तु भावना का अर्थ कोई कल्पना और विकल्प नहीं है। आहाहा! वह नहीं था? वह ब्रह्मचारी नहीं? दयासागर कौन? यहाँ नहीं बैठा था? वह आया तब (कहता था) श्रावक को सामायिक में शुद्धभाव की भावना होती है। तब उस शुद्धभाव की भावना अर्थात्? कि वह तो कल्पना-भावना। ऐसा नहीं है। भावना अर्थात् निर्मल परिणति। आहाहा!

प्रवचनसार में टीका में आता है कि सामायिक में श्रावक को भी समकिति को शुद्धोपयोग आता है। भावना शब्द से शुद्धोपयोग.. आहाहा! सम्यग्दर्शन है और सामायिक में जब बैठते हैं, तब कदाचित् शुद्धोपयोग आता है। भावना अर्थात् शुद्धोपयोग। ऐसी बात वहाँ है। भावना अर्थात् शुद्धोपयोग हमें आओ, ऐसा विकल्प, उसका नाम भावना-ऐसा नहीं है। इस प्रकार यह शुद्धचैतन्य की भावना, वह विकल्प नहीं; एकाग्रता है। आत्मा के आनन्द की, अनुभव की दशा है, उसे यह भावना कहते हैं। आहाहा! भावना अर्थात् विचार करना और विकल्प करना, चिन्तवन करना, (ऐसा नहीं)। वह तो सब विकल्प है, राग है। आहाहा!

यहाँ शुद्धचैतन्य की भावना अर्थात् एकाग्रता। शुद्धचैतन्य वस्तु भगवान् त्रिकाल परमात्मस्वरूप ध्रुव की सन्मुख की भावना, वह अनादि संसाररोग मिटाने की उत्तम औषधि है। आहाहा! विशेष कहेंगे..... (श्रोता : प्रमाण वचन गुरुदेव!)